



ISSN Print: 2394-7500  
ISSN Online: 2394-5869  
Impact Factor: 5.2  
IJAR 2019; 5(1): 213-215  
www.allresearchjournal.com  
Received: 13-10-2018  
Accepted: 16-11-2018

**डॉ. तीर्थानन्द मिश्र**  
एसोसियेट प्रोफेसर, राजकीय मीरा  
कन्या महाविद्यालय, उदयपुर,  
राजस्थान, भारत

## ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलंकार

**डॉ. तीर्थानन्द मिश्र**

‘अलंकार शब्द का अपना एक इतिहास है। अपने प्रारम्भिक काल में अलंकार केवल उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन चार अर्थों में प्रयुक्त मिलता है—

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।  
अलंकारस्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।।<sup>1</sup>

लगभग इसी अर्थ में उद्भट ने भी अलंकार शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु दण्डी और वामन में आकर अलंकार शब्द ने महासंज्ञा का रूप धारण कर लिया। काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते<sup>2</sup> तथा सौन्दर्यमलंकारः<sup>3</sup> इसी व्यापक अर्थ के द्योतक है। आनन्दवर्धन से पूर्व साहित्यिक क्षेत्र में भामह, उद्भट, वामन आदि आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य स्वरूप में शरीर पक्ष का प्राधान्य रहा है जबकि काव्यत्व के लिए अपरिहार्य आत्मतत्त्व की उपेक्षा रही है। भामह ने ‘शब्दार्थो सहितौ काव्यम्’<sup>4</sup> कहकर काव्य को शोभाधायक तत्त्वों में गुण, अलंकार, रीति और वृत्तियों को स्थान दिया। इन आचार्यों ने काव्य सौन्दर्य के लिए अलंकार को आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य भी माना। आचार्य वामन का ‘काव्य ग्राह्यमलंकारात्’<sup>5</sup> तथा सौन्दर्यमलंकारः काव्य में अलंकार की अपरिहार्यता को ही सिद्ध करता है। ध्वनिवाद की स्थापना से पूर्व जितने भी आचार्य हुए सभी ने पूर्व प्रचलित परम्परा का आश्रम ग्रहण कर ‘काव्यशरीरवाद’ को ही पुष्ट करते रहे। शरीर में प्राण-प्रतिष्ठा करने की ओर या तो इन आचार्यों का ध्यान ही नहीं जा सका या ये प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सके। वस्तुतः इस शरीरवाद के विरुद्ध आत्मवाद की प्रतिष्ठा के लिए ही ध्वन्यालोक का निर्माण हुआ जिसने काव्य को सजीव, सुन्दर और प्राणवान् बना दिया। ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा से पूर्व आचार्यगण वाच्यार्थ के ही महत्त्व का प्रतिपादन करते रहे तथा अलंकारों में ही व्यंग्यार्थ की कल्पना करते रहे, तभी तो लोचनकार अभिनवगुप्त ने यहाँ तक कह डाला कि

वाच्यसंवलनविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते,  
चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे।<sup>6</sup>

तात्पर्य यह है कि प्राचीन आचार्यों ने वाच्य को केन्द्र बिन्दु मानकर तथा उसी की सीमित सीमा के अन्दर काव्य के विविधतत्त्वों का परीक्षण किया है। वाच्य चमत्कार के व्यामोह में अलंकारवादियों ने काव्य के बाह्यशरीर के अलंकरण को ही वाच्य का सर्वस्व मान लिया। कवि-भारती के आन्तरिक चमत्कार किंवा सौन्दर्य पर उनका ध्यान नहीं जा सका, फलतः काव्यात्मतत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। ‘ध्वनिवाद’ के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन का जब उदय हुआ तो ‘काव्यात्मतत्त्व’ के रूप में ‘रसध्वनि’ की प्रतिष्ठा हुई और शब्दार्थ के बाह्य विधान के सारे रूप शिथिल हो गये। सर्वत्र एक ही अभिनव प्रतीयमानार्थ की प्रतीति होने लगी। शब्द और अर्थ के बाह्य स्वरूप को अतिशयित कर मुख्य रूप से स्फुरित होने वाला प्रतीयमानार्थ उन्हें इतना हृदयग्राही प्रतीत हुआ कि इन्होंने इसकी तुलना अंगनाओं के लावण्य से कर डाली—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।<sup>7</sup>  
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्नासु।

किसी भी वस्तु के पूर्णरूप से सिद्ध व प्रचलित हो जाने की स्थिति में अकस्मात् उसका बहिष्कार नहीं किया जा सकता है,

### Correspondence

**डॉ. तीर्थानन्द मिश्र**  
एसोसियेट प्रोफेसर, राजकीय मीरा  
कन्या महाविद्यालय, उदयपुर,  
राजस्थान, भारत

उसकी व्यवस्था भिन्न-भिन्न ढंग से करके केवल उसके महत्त्व को घटाया जा सकता है। यही कारण रहा कि ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठापना के बाद भी अलंकारों का निर्वचन होता रहा और पण्डितराजजगन्नाथ पर्यन्त विद्वान् अपने-अपने ग्रन्थों में अलंकारों का विवेचन करते रहे। आनन्दवर्धन से पूर्व जहाँ चारुत्वोत्पादक काव्यतत्त्वों को अलंकार या गुण कहा जाता था, वहीं ध्वनितत्त्व की स्थापना के बाद अलंकारादि का क्षेत्र संकुचित हो गया। आनन्दवर्धन ने काव्यांगभूत शब्द और अर्थ के धर्म को अलंकार तथा काव्यात्मभूत रसादि के आश्रित धर्म को गुण कहते हुए लिखा है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा स्मृताः।  
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकदिवत् ॥ ८

अलंकारों की अलंकारता के सन्दर्भ में ध्वन्यालोककार का स्पष्ट मानना है कि रस भाव आदि के तात्पर्य से उनके अंग रूप में ही अलंकारों की स्थिति समस्त अलंकारों के अलंकारत्व का साधक है—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।  
अलंककृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ ९

इस तरह ध्वनि के सन्दर्भ में वाच्य-वाचक भावाश्रित चारुत्वोत्पादक तथा रस के परम्परया उपकार तत्त्व ही अलंकार है। रस काव्य का अंगी है जबकि शब्दार्थ काव्य के अंग है। रस काव्य की आत्मा है तो शब्दार्थ काव्य के शरीर है। इसी शब्दार्थ रूपी शरीर की शोभावृद्धि के हेतु को अलंकार कहा जाता है। जिस तरह लोक में कटक कुण्डलादि, अंगों के शोभावृद्धक होते हुए अलंकार (आभूषण) कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य के शरीरभूत शब्द एवं अर्थ पर आश्रित चारुत्व हेतु को अलंकार कहा जाता है। ध्वनिवादी समस्त आचार्यों ने उक्त रीति से ही अलंकार को अपने-अपने ग्रन्थों में परिभाषित करने का प्रयास किया है। अलंकारों का लक्ष्य शब्दार्थ की शोभावृद्धि के द्वारा काव्यात्मभूत रसादि का उत्कर्ष है। इसी कारण मम्मट ने अलंकारों की रसोपकारिता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

ये वाच्यवाचकलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भवि  
नमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि  
उपकारका हारादय इवालंकाराः यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्ति  
वैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ॥ १० -

अलंकारों की रसोपकारिता सर्वत्र नहीं होती है। कभी अलंकार रस के उपकारक होते हैं और कभी रस के असदभाव में कुरूप स्त्री द्वारा धारण किये गए अलंकारों के समान उत्कर्षाधायक न होकर 'दृष्टिवैचित्र्यमात्र' प्रतीत होते हैं और कभी रस के सदभाव में 'लोकोत्तरसौन्दर्यशालिनी' किसी नायिका द्वारा धारण किये गए ग्राम्यालंकार सदृश काव्य के उत्कर्षाधायक नहीं होते हैं। इसी दृष्टि से आचार्य मम्मट ने 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्' ११ में 'जातुचित्' शब्द का प्रयोग कर इस तथ्य को उजागर किया है कि ध्वनिसमर्थक आचार्यों की दृष्टि में अलंकार का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

ध्वनिवादियों ने अलंकार की 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यता' की स्थिति को स्वीकार किया है। उनके अनुसार सहज प्रतिभा के द्वारा रसावेश में जिन अलंकारों का स्फूरण होता है वे ही वस्तुतः अलंकार होते हैं; यत्न साध्य अलंकार वस्तुतः अलंकार न होकर चित्रकाव्यत्व के प्रतिपादक होते हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने उक्त मान्यता को ही निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः  
काव्यस्यालंकारयोग इति ॥ १२—

सामान्य कवियों की रचनाओं में भी अलंकार, 'अलंकारत्व' को प्राप्त कर सके इसके लिए आनन्दवर्धन ने कुछ नियमों का निर्देश निम्न कारिकाओं में किया है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।  
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्बर्हणैषिता।  
निर्व्यूढावपि चाङ्गित्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।  
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ १३

इसके अनुसार (1) अलंकारों की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर ही करनी चाहिए। (2) इनका प्रयोग काव्य में प्रधान रूप में कदापि नहीं होनी चाहिए। (3) रसोत्कर्ष के अपेक्षानुरूप ग्रहण तथा त्याग होना चाहिए। (4) अलंकारों के आद्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे रसव्याधात होता है तथा (5) आद्यन्त निर्वाह करने की स्थिति में इसका ध्यान रखना चाहिए वे अंगरूप में ही वर्णित हों।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के वस्तुध्वनि, रसध्वनि तथा अलंकारध्वनि नामक तीन भेद का उल्लेख कर सहृदयों के सम्मुख काव्य में अलंकार को व्यंग्य रूप में प्रतिपादित करने का आग्रह निम्न कारिका में किया है—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।  
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥ १४

अभिवगुप्त अभिनवभारती में इसी का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि अलंकार सर्वदैव काव्यांग होते हैं। किन्तु जिस प्रकार बालक्रीड़ा में बच्चे कुछ देर के लिए राजा आदि बन जाते हैं ठीक उसी तरह व्यंग्य होने पर अलंकार अलंकार्य पद को प्राप्त होते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ध्वनिवादियों ने काव्य में ध्वनि को विशेष महत्त्व देते हुए भी अलंकार का सर्वथा परित्याग नहीं किया है और ऐसा किया भी नहीं जा सकता क्योंकि वचन भंगिमा का आधार अलंकार ही है। ध्वनिवादियों द्वारा काव्य में अलंकार के प्रयोग को नियमित किया गया तथा काव्य को हृदयग्राही बनाने हेतु इसके औचित्यपूर्ण भूमिका पर बल दिया गया। औचित्य ही वास्तव में वह तत्त्व है जो काव्य में विविध तत्त्वों का विनियोग, समरसता तथा सामंजस्य को बनाये रखता है। इन्हीं सब तत्त्वों को ध्यान रखकर क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को काव्य का सर्वस्व घोषित किया है—

काव्यस्यालंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।  
यस्य जीवितमौचित्यं विक्रियापि न दृश्यते ॥  
अलंकास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।  
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥ १५

ध्वन्यालोककार ने भी औचित्य पर बल देते हुए यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'अनौचित्य' के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं हो सकता है—

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।  
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ १६

अतः अलंकारों की यथार्थता तभी है जब वे बलपूर्वक समीक्षोपरान्त काव्य में प्रयोग किये जायें और अलंकार की सार्थकता तभी है जब वे अलंकरण रूप कार्य को सिद्ध करें। इसी दृष्टि से ध्वनिवादियों के द्वारा अलंकारों की उपमा 'कटककुण्डलादि' आभूषणों से दी गई है। इसके माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि शरीर में धारण किये जाने वाले 'कटककुण्डलादि' की भाँति ये काव्य में त्याज्य नहीं है। यदि किसी काव्यखण्ड को

उसके अलंकार से पृथक करके देखा जाये तो उसका काव्यत्व ही बाधित हो जायेगा। कटक कुण्डलादि से इसकी उपमा तो मात्र इसलिए दी गई है कि जिस प्रकार सुन्दर शरीर अलंकारों से और अधिक शोभित हो उठता है उसी प्रकार काव्य में उपयुक्त अलंकार योजना भावाभिव्यंजन को दृढ़तर बना देता है और अनुपयुक्त अलंकार योजना उसी प्रकार खटकती है जिस प्रकार वृद्धा के शरीर पर अतिशय आभरण। स्वयं आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्याविशेषा एवं रूपका  
दयोलंकाराः तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ।<sup>17</sup>

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ध्वनिवादियों की दृष्टि में रसभावादि को प्रधान मानकर उनके अंगरूप में अलंकारों की स्थिति ही समस्त अलंकारों के अलंकारत्व का साधक है। काव्य रसपेशल व औचित्यपूर्ण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में लोचनकार का वक्तव्य अत्यन्त प्रभावशाली है जिसके अनुसार नीरस काव्य में अलंकार का प्रयोग ठीक उसी प्रकार उक्तिवैचित्र्य मात्र का प्रतिपादक होता है जैसे शवशरीर अथवा गलित यौवना नारी या यति का आभूषणों से सुसज्जित शरीर वैचित्र्य का बोधक होता है—

तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति,  
अलंकार्यस्याभावात्। यति शरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं  
भवति अलंकार्यस्यानौचित्यात्।<sup>18</sup>

इस तरह ध्वनिवादियों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि अंगाश्रित होते हुए भी अलंकार रस रूप आत्मा की सौन्दर्याभिव्यक्ति में ही अलंकारत्व को प्राप्त करते हैं।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र—16/40
2. काव्यादर्श—2/1
3. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—1/1/2
4. काव्यालंकार—1/16
5. 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—1/1
6. लोचन
7. ध्वन्यालोक—1/14
8. ध्वन्यालोक—2/6
9. ध्वन्यालोक—2/5 वृत्तिभाग पृ. 88
10. काव्यप्रकाश—सूत्र 87 वृत्ति
11. काव्यप्रकाश—सूत्र 87
12. वक्रोक्तिजीवितम्—1/6 वृत्ति
13. ध्वन्यालोक—2/18—19
14. ध्वन्यालोक—2/28
15. औचित्यविचारचर्चा—4—5
16. ध्वन्यालोक—3/14 वृत्ति
17. ध्वन्यालोक—2/16 की वृत्ति
18. ध्वन्यालोक (लोचन), पृ. 209